तर्क और तथ्य की देहरी

अर्पिता राठौर

दरअसल भारतीय समाज ऐसा समाज है, जो सतह पर कम, अन्दर ज़्यादा है। सतह के दृश्य को प्रमाण हमारे यहाँ कभी नहीं माना गया। देहरी-दीपक न्याय हमारी आदत में है। हमारे यहाँ दीपक देहरी पर, बीच में है और इसका उजाला अन्दर-बाहर सब जगह है। जो दीपक को केवल अन्दर या बाहर रखकर उसके सीमित उजाले में सोचते-समझते हैं, हमारे यहाँ उनकी संख्या गिनती की है। शेष अधिकांश के यहाँ तो दीपक देहरी पर है और उन्हें अन्दर से बाहर को और बाहर से अन्दर को देखने-समझने की आदत सदियों से है।[1]

देहरी पर मौजूद यही दीपक बारीक से बारीक कोनों तक पहुँच बरसों से अन्धेरे में दबे महीन से महीन रेशों पर अपनी रोशनी छिड़कता है, उन पर रोशनी छिड़कता है जिनके पीछे तल्ख़ सच्चाइयाँ मौजूद हैं।

वर्तमान साहित्य जगत में ऐसी कम ही किताबें मिलेंगी जो अपनी बात को पुख्ता रूप से रखने हेतु इतिहास की गहरी जड़ों तक पहुँचने का प्रयास करती हों। इसके लिए तर्क और तथ्य की एक दुरुस्त बुनियाद होना अपेक्षित है। माधव हाड़ा का लेखन इसी राह से होकर निकलता है जिसका हालिया उदाहरण है उनकी यह पुस्तक *देहरी पर दीपक*। यह पुस्तक विषयों की विविधता से सराबोर है। यहाँ मीरां और सूर की एवज समस्त मध्यकालीन साहित्य पर एक नई बहस खड़ी की गई है और साथ ही अभिव्यक्ति और संस्कृति को वर्तमानता की निगाह से उजागर भी किया गया है। यहाँ हम *लोके के सांवरे सेठ* से भी रूबरू होंगे और साथ ही कथेतर गद्य के माध्यम से कुछ अहम सवालों पर भी बात की जाएगी। इस कृति में एक ओर *ब्रह्मराक्षस* और *तुगलक* जैसी कृतियों के समकालीन पाठ मौजूद हैं तो वहीं दूसरी ओर मुनि जिन विजय की भूला दी गयी आत्मकथा को भी प्रकाश में लाया गया है और अन्त में छायावाद की मौजूदा संभावनाओं पर भी विचार किया गया है।

माधव हाड़ा के आलोचना कर्म में हमेशा से ही तर्क और तथ्य दोनों को समानांतर प्रस्तुत करने की एक स्वाभाविक प्रतिबद्धता रही है। बात करें यदि *देहरी पर दीपक* की तो यह पुस्तक कुल ग्यारह अध्यायों में विभाजित है जिसका प्रत्येक अध्याय पुनर्व्याख्या की एक नई राह इजाद करता है। महज़ यह पुस्तक ही नहीं बल्कि उनका समस्त अध्ययन पुनर्व्याख्या की एक नवीनतम वैचारिक बुनियाद खड़ी करता है।

किताब का पहला अध्याय *अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की भारतीय संस्कृति और परम्परा* है। अव्वल तो अभिव्यक्ति जैसी बुनियाद पर बात करना ही इस पुस्तक को ज्ञानवर्धक और रोचक बना देता है। लेखक की एक खासियत यह है कि उनके आंकलन में इतिहास की गहरी पड़ताल हर विषय के साथ शाइस्तगी से जुड़ी होती है।

इतिहास की ऐसी पड़ताल जो जायज़ भी है। इसी पड़ताल ने उन्हें पहुँचाया है *विद्यमानता की स्वीकृति* की अवधारणा तक जिसके संदर्भ में पुस्तक से यह पंक्तियाँ उद्धृत हैं–

यह इस तरह का स्वीकार भाव है कि आप हम जैसे नहीं हैं और हम आप जैसे नहीं हैं। एक–दूसरे की विद्यमानता का यह स्वीकृति भाव यहाँ के दर्शन और साहित्य सहित सभी कला रूपों के वैविध्यपूर्ण विकास में फलीभूत हुआ है।[2]

माधव हाड़ा का यह लेख सहजता और गतिशीलता की एक नई व्याख्या प्रदान करता है। वर्तमान में हमने जिन पैमानों को रूढ़ मान लिया है वे दरअसल हर समय गतिशील रहे हैं। वे प्रतिरोध और संघर्ष के बीच ही पनपे हैं और किताब की बानगी से समझें तो उन्हें रूढ़ मानना सभ्यता के साथ एक सायास बेईमानी करना होगा। स्वयं लेखक के शब्दों में कहें, *भारतीय दर्शनों का विकास भी इस तरह से हुआ कि इसमें विचारों के वैविध्य की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। ईसा पूर्व की सातवीं और दूसरी सदी के बीच भारत में लोकायत, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदांत, जैन, बौद्ध धर्म आदि कई दार्शनिक विचारधाराएँ अस्तित्व में आईं। ये आदर्शवादी, भौतिकवादी, नास्तिक, आस्तिक आदि सभी तरह की दर्शन प्रणालियाँ हैं।*[3]

अत: पुस्तक का यह अध्याय इस बात को तार्किक रूप से प्रमाणित करता है कि प्रतिरोध, संघर्ष, विरुद्धों का स्वीकरण इत्यादि से इतिहास बनता है जिस को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। 15वीं सदी में इस बात की पुष्टि हेतु हमें बहुत से प्रमाण जहाँ–तहाँ बिखरे मिल जाते हैं जिनको लेखक ने बड़ी ही नजाकत से अपनी पुस्तक में पिरोया है। वे लिखते हैं, *पंद्रहवी सदी में हुए माधवाचार्य का अपना एक दार्शनिक मत है, लेकिन उन्होंने अपने ग्रंथ 'सर्वदर्शन संग्रह' में चालीस विभिन्न प्रकार के दार्शनिक मत–मतांतरों को बिना किसी भेदभाव के शामिल किया। ख़ास बात यह है कि बहुत स्पष्ट और मुखर असहमति के बावजूद इसमें अनीश्वरवादी लोकायत या चार्वाक दर्शन को भी विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।*[4]

यह कृति *देहरी पर दीपक* एक तार्किक निगाह से अनेक सांस्कृतिक व ऐतिहासिक आयामों के पुनर्लेखन की माँग करती है। यह पुस्तक बार–बार यह आह्वान करती है कि बने बनाए पैमानों पर वाजिब संदेह किए जाने चाहिए। यह सन्देह ही हैं जो हमें गहरे तथ्यों की ओर ले जाते हैं। यह खासियत महज़ इस किताब तक सीमित नहीं है यह खासियत माधव हाड़ा के सम्पूर्ण लेखन की है। सन्देह करना उनकी कुछ अच्छी आदतों में शुमार है, ऐसे संदेह जो रूढ़िवादिता के धुँधलके को साफ करने का काम करते हैं। ऐसा ही एक धुँधलका जो *बाजार की अवधारणा* से पनपा है उस पर माधव हाड़ा ने जहाँ तहाँ जरूरत पड़ी है लिखा है। उन्होंने बाजार के षड्यंत्रों को संजीदगी से परखा है और उस को उजागर भी किया है। आइए देखें उनकी पुस्तक *सीढ़ियाँ चढ़ता मीडिया* इस सन्दर्भ में क्या कहती है–

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से प्रारम्भिक साहित्य कहानी की लोकप्रियता कम हुई है और तमाम दावों के बावजूद उसकी हैसियत अब पहले जैसी नहीं है।[5]

बतौर आलोचक इतिहास को परखना, आंकना, विश्लेषित करना लेखक को बखूबी आता है। वह इतिहास को पररखते वक्त व्यावहारिकता को बहुत तरजीह देते हैं। अरस्तु के हवाले से कहा जाए तो– the poet's function is to describe not the thing that has happened but a kind of thing that might happen i.e, what is possible as being probable or necessary[6]. लेखक भी इसी अवधारणा के अनुकूल अपना अध्ययन करते हैं। इसीलिए इतिहास के अध्ययन के नाम पर जहाँ भी उन्हें तबियतन उठाइगिरी दिखाई देती है वहाँ वे उसका डटकर तार्किक विरोध करते हैं। वे इस बात में गहराई से विश्वास करते हैं कि इतिहास का अध्ययन इस लिहाज़ से किया जाए कि जो गलतियाँ पीछे हो चुकी हैं उससे हम वर्तमान में सीख लें, उसके

दोहराव से बचें।

देहरी पर दीपक खोती हुई बहुवचन संस्कृति की थाती याद दिलाती है। ऐसी संस्कृति जहाँ वाद-विवाद-संवाद तथा खण्डन-मण्डन का अपना एक दर्जा हुआ करता था। किताब में ऐसे बहुत से उद्धरण मिल जाएंगे जो इस बात को विस्तृत करते हैं, *अशोक स्वयं बौद्ध धर्म में दीक्षित था, लेकिन अन्य धर्मों की धारणाओं और विश्वासों के लिए उसके मन में गहरा सम्मान था। उसका विचार था कि जो व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के प्रति लगाव के कारण अन्य लोगों के मतों का अपमान करता है, वह अपने इस व्यवहार द्वारा अन्ततः अपने ही सम्प्रदाय का अहित करता है। मध्यकाल में अकबर ने भी इस बहुवचन अभिव्यक्ति संस्कृति को शासकीय समर्थन प्रदान किया।*[7]

अलबत्ता हम यह समझ पाएँगे कि एक स्वस्थ वैचारिक विरोध किसी भी नवीन विचार के प्रवर्तन हेतु कितना आवश्यक है। साथ ही यह पुस्तक एक अहम सवाल खड़ा करती है कि क्या वे ग्रन्थ, वे प्रणालियाँ, वे मान्यताएं जिनका हवाला देकर हमने बड़ी-बड़ी रूढ़ियाँ स्थापित कर दी हैं, क्या उनका वाकई तार्किक अध्ययन हुआ है? यह कृति इसके साथ एक और सवाल खड़ा करती है कि वे सिद्धान्त जो किसी समय में स्थापित मान्यताओं की असहमति की एवज उपजे थे, क्या वर्तमान में वे अपने समक्ष उठी असहमतियों के प्रति भी उतने ही उदार हैं? बौद्ध धर्म या जैन धर्म सहित अन्य ऐसे मत जो उस वक्त मजबूती से स्थापित मतों के विरुद्ध खड़े हुए क्या वर्तमान में भी इन मतों की गतिशीलता वैसी की वैसी बनी हुई है? यह पुस्तक पाठकों को इस प्रश्न का उत्तर खोजने की एक वृहद गुंजाइश प्रदान करती है।

देहरी पर दीपक कृति से गुजरते हुए हम पाएँगे कि लेखक के यहाँ तर्क और युक्ति को लेकर एक विशेष प्रकार का आग्रह है। तर्क और युक्ति बहुत सी चीजों को गतिशील बनाए रखने की कसौटी है, यह कसौटी इस पुस्तक में कुछ इस तरह बयाँ की गई है, *तर्क और युक्ति पर जोर देने की उनकी आदत के कारण परंपरा यहाँ पुनर्वा होती रहती है और आस्था-विश्वास कभी अंतिम और सनातन नहीं बन पाते।*[8] रेने डिस्कार्ड की लातिन में लिखी यह पंक्ति बेहद लोकप्रिय है *कॉजिटो एरगो सम* (Cogito ergo sum) अर्थात मैं सोचता हूँ इसीलिए मैं हूँ। यही अवधारणा भारतीय इतिहास में बहुत पहले से विद्यमान थी जो इस किताब के हवाले से और अधिक स्पष्ट होती है।

लेखक की तर्क और युक्तिपरक शैली को बेहद नजदीकी से समझने हेतु उनका एक महत्त्वपूर्ण लेख *पूर्व कथा संपेख* पढ़ा जाना चाहिए। इस लेख में वे जिन भी तथ्यों को सामने रखते हैं उससे पाठक वर्ग इतिहास पुनःलेखन की माँग की ओर तार्किक रूप से जिज्ञासु बना रहता है। हालाँकि लेखक की यह विशेषता इस लेख तक ही सीमित नहीं है मगर फिर भी इस लेख में यह और भी अधिक मुखरता से अभिव्यक्त है। *पद्मावत* कथा को आधार बनाकर लिखा गया उनका यह लेख *मान्य सच* की तथ्यात्मक गहराई पर उतरता है। मसलन पुस्तक के हवाले से- *वस्तुस्थिति यह कि जायसी से बहुत पहले यह कथा बीजक लोक स्मृति में था, जायसी के इस प्रकरण की कल्पना करने का विचार सर्वथा निराधार है और अन्य रचनाकारों की तरह जायसी ने पूर्व प्रचलित कथाबीज को ही आधार बनाकर पद्मावत की रचना की थी। यही नहीं, परवर्ती इस्लामी वृत्तान्तकार-मोहम्मद कासिम फिरिश्ता, अबुल फजल, और अब्दुल्लाह मुहम्मद उमर अल-मक्की अल-आसफी अल-उलुगखानी हाजी उद्दबीर भी इस प्रकरण के लिए जायसी के बजाय लोक में प्रचलित कथा बीज पर ही निर्भर हैं। फारसी में जायसी के बाद भी बजमी और राजी ने इस कथाबीजक को आधार बनाकर कथा-काव्य लिखे, लेकिन उन्होंने भी आधार पद्मावत को नहीं, प्रचलित हिंदवी कथा को ही बनाया था।*[9]

बहुत से *मान्य सच* या कहें कि आमफ़हम जो बहुत सटीक लगते हैं उन पर पुनः अध्ययन करना लगभग छूट-सा जाता है और सही मायनों में कहें तो लेखक के

अध्ययन का आधार ही है 'मान्य सच'। इससे वे साहित्य के क्षेत्र में जरूरत अनुसार वैज्ञानिक विश्लेषण का एक महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित करते हैं। सरल शब्दों में कहें तो *मान्य सत्य* की ऐतिहासिकता पर संदेह करना ही माधव हाड़ा की आलोचनाकीय दृष्टि की प्रमुख कसौटी है। इसी कसौटी का मुखरित रूप है यह पुस्तक *देहरी पर दीपक*। *मान्य सत्य* पर सन्देह करने की इस प्रक्रिया में साहित्येतिहास के बहुत से पूर्वाग्रह नास्तेनाबूत होते हैं और समझ आता है कि इतिहास प्रचलित या सर्वमान्य आयाम नहीं होता, इतिहास इन सबसे इतर है जिस पर ताउम्र अध्ययन जारी रहता है।

माधव हाड़ा की देहरी का यह दीपक भाषाई पूर्वाग्रहों को भी दूर करता है। हम आदतन भाषा को साँचे में डालकर देखते हैं ऐसे में न सिर्फ हमारे हाथ पूर्वाग्रह लगते हैं बल्कि कुछ जरूरी तथ्य भी हाथ से निकल जाते हैं। कृति से एक प्रसंग काबिल-ए-गौर है- *भारत का भाषायी वैविध्य विचित्र के रूप में जिस तरह से प्रचारित है, यह दरअसल वैसा है नहीं। यह विचित्र हमें भाषायी वर्गीकरण और विभाजन की औपनिवेशिक समझ के कारण दिखाई पड़ता है*।[10] लेखक के भीतर यह गम्भीर भाषाई समझ उनकी साहित्यिक और ऐतिहासिक समझ में इजाफा कर देती है। भारत को क्षेत्रीय अस्मिता के नाम पर जबरन खाँचा बद्ध कर साहित्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा बेफिजूल गर्क में स्वयं को धकेल देता है। और साथ ही एक सवाल हमारे पीछे छूट जाता है कि क्या वाकई भाषाओं को क्षेत्रीय अस्मिताओं के साँचों में इतनी आसानी से डाला जाना सम्भव है?

भाषाएँ यहाँ इस तरह एक-दूसरे से जुड़ी और एक-दूसरे में घुली-मिली थीं कि इनको अपनी अस्मिता के साथ जोड़ कर देखना संभव नहीं था। भाषा को अपनी अस्मिता का हिस्सा बनाने का चलन यहाँ उपनिवेशकाल के बाद शुरू हुआ।[11]

देहरी पर दीपक साहित्य का नवीन पाठ है। एक ऐसा पाठ जिसने तैयार करने में न जाने क्या-क्या खोज डाला। साहित्य को कुछ ऐसे अनछुए प्रसंग सौंप दिए जो सम्पूर्ण साहित्येतिहास लेखन को नए सिरे से प्रारम्भ करने के लिए पर्याप्त है। ये अनछुए प्रसंग अध्याय तीन *लोक का सावरा सेठ* की बानगी से महसूस किए जा सकते हैं। वे लोक में मौजूद कृष्ण का एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जिससे हम आज तक अपरिचित थे-

विद्वान थोड़ी-सी छाछ और मक्खन के लिए गोपियों के आगे नाचनेवाले कृष्ण पर तो बहुत मुग्ध हुए, लेकिन उन्हें नहीं पता कि समधिन स्त्रियों की गालियाँ खानेवाला एक दुनियादार कृष्ण भी हमारे लोक ने गढ़ रखा है।[12]

एक बहुत वाजिब सवाल उठता है कि साहित्य में ऐसे खूबसूरत प्रसंग प्रकाश में आने से कैसे बच गए? यह पुस्तक एक इशारा है यह बताने का कि साहित्य को देखने की निगाह में अभी और अधिक व्यापकता की गुंजाइश शेष है।

पुनर्विचार करने की अपार सम्भावनाएँ हमें स्वयं इस कृति से मिल जाती हैं। मसलन *मीरां के कविता का पाठ* अध्याय। लेखक हर बार एक नए तथ्य के साथ इस बात को तार्किक लहजे में प्रमाणित करते हैं कि क्यों मीरां पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। पुस्तक की भाषा में कहें, *भारतीय लोक-समाज का जैसा स्वभाव है उसमे केवल दस्तावेज़ी, मतलब हस्तलिखित और प्राचीन को ही प्रामाणिक मानने आग्रह ठीक नहीं है। अब इस पर पुनर्विचार की ज़रूरत है। दस्तावेज़ी और प्रामाणिक कविता में उस समय का पता-ठिकाना तो होता है, लेकिन यह हमारे लोक-समाज का स्वभाव नहीं है*।[13]

देहरी पर दीपक पुस्तक साहित्येतिहास के भूले-से मगर खास दायित्व का निर्वाह करती है, वह दायित्व है अतीत में छिपे उन योगदानों को खींच निकालना जिनका नाम लगभग विलुप्त हो चुका है। मीरां की कविताओं के पाठ के बनिस्बत लेखक ने ऐसे बहुत से विद्वानों के नाम उजागर किया है जिन्होंने साहित्य को बहुत सी अमूल्य निधियाँ प्रदान कीं मगर उनका नाम इतिहास में कहीं दर्ज

ही नहीं हो पाया। उनमें से एक नाम है हरिनारायण पुरोहित का जिनके संदर्भ में माधव हाड़ा लिखते हैं–

मीरां के हस्तलिखित के पदों के अनुसन्धान के साथ लोक में प्रचलित पदों में से असल की पहचान का सबसे अधिक मान्य और स्वीकार्य कार्य हरिनारायण पुरोहित ने किया। वे आजीवन इस कार्य में लगे रहे। विडंबना यह है उनका यह कार्य बहुत विलंब से उनके मरणोपरांत 1968 ई. में राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से मीरां बृहत्पदावली, भाग–1 के रूप में प्रकाशित हुआ।[14]

इसी प्रकार अध्याय 7 के माध्यम से भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण बिंदु अनायास ही पुस्तक का अहम हिस्सा बन जाता है। वह है पाठालोचकों का योगदान। अध्याय 7 में मुनि जिनविजय के हवाले से पाठालोचकों के भुला दिए गए योगदान पर एक बेहद जरूरी बहस उठाई गई है। वे सभी पाठालोचक जिनके अध्ययन ने वह बुनियादी सामग्री प्रदान की जो संपूर्ण साहित्य को समझने का आधार है उनमें से कितनों को हम उतनी ही गम्भीरता से पढ़ते हैं जिस तरह बाकी आलोचकों को ?

पूर्वाग्रहों के पीछे कभी भी ठोस वजहें नहीं होती पर उनकी जड़ें स्वयं इतनी ठोस होती हैं कि वे बहुत से अहम तथ्यों को भीतर ही भीतर खोखला करती जाती हैं। लेखक पुस्तक में मुनि जिन विजय की आत्मकथा *एक भव अनेक नाम* की महत्ता उजागर करते हैं और मुनि जिन विजय के मामले में पनपे बहुत से पूर्वाग्रहों को भी सामने लाते हैं । लेखक के शब्दों में–

उनके अनुसन्धान का मनोनीत क्षेत्र प्राचीन साहित्य था, इसलिए आधुनिक होने की हड़बड़ी और जल्दबाज़ी में आलोचक–इतिहासकारों ने उनके काम को महत्त्व ही नहीं दिया। उनके नाम में प्रयुक्त *मुनि* पद भी उनके काम के मूल्याँकन में बाधा बन गया।[15]

साहित्य को परखने का देहरी का यह दीपक लोक साहित्य के मसले में कई दफे *कम से कम असल के नजदीक है* वाली अवधारणा से भी काम लेता है। यह दस्तावेजीकरण जैसे अतिरिक्त गुणा भाग से बेहतर परिणाम देती है। मीरां के सन्दर्भ में पुस्तक के हवाले से ऐसे बहुत से शानदार तर्क मौजूद हैं जो इसी अवधारणा की मानिंद खड़े हैं, *मीरां के पदों की कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जो उसके एकाधिक पदों में आती हैं, जो यह साबित करती हैं कि असल उनमें मौजूद है।*[16] वे आगे लिखते हैं–*मीरां की कविता में लोक पली–बढ़ी है, इसलिए केवल मूल, प्राचीन और प्रामाणिक के आग्रह के साथ उसके पदों के अनुसंधान के अच्छे परिणाम नहीं निकले।*[17]

मीरां पर बात करने के बहाने साहित्य के कुछ हिस्सों में लगे टैग को भी लेखक इस किताब के माध्यम से गैरजरूरी साबित करते हैं। ऐसा करने के लिए उन्हें यदि तार्किक रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यताओं का खंडन भी करना पड़े तो वे पीछे नहीं हटते। पुस्तक में एक जगह वे लिखते भी हैं, *रामचन्द्र शुक्ल सहित कई आरम्भिक आधुनिक विद्वानों ने मीरां की भक्ति को माधुर्य भाव की श्रेणी में रख दिया।* रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा कि *मीरांबाई की उपासना माधुर्य भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थी। रामचन्द्र शुक्ल के वैदुष्य के कारण मीरां की कविता पर माधुर्य भाव का यह टैग हिंदी में रूढ़ि बन गया। उनकी रचनाओं का अनुसंधान और आलोचना करने वाले विद्वानों ने कृष्णलीला और माधुर्य भाव से इतर उसकी रचनाओं को अप्रामाणिक ठहरा दिया।*[18]

अत: हम देख सकते हैं आदतन खाँचों में पढ़ना, अध्ययन–विश्लेषण करना हमें पूर्वाग्रहों के दलदल में ले जाता है। ऐसे में सिर्फ मीरां के ही पद नहीं बल्कि पूर्वाग्रह से लबरेज साहित्य का कोई भी अंश हमें एक भारी नुकसान की ओर ले जाता है। किसी साहित्यकार की वे रचनाएँ जो किसी विशिष्ट साँचे की प्रवृत्तियों में *मिसफिट* साबित हो जाती हैं वे अपने समय में ही दम तोड़ देती हैं। अत: सीमित दायरे के भीतर किए गए अनगिनत अध्ययन किसी नए निचोड़ तक पहुँच ही नहीं

पाते। किताब का अध्याय 5 *कोकिल कूजत कानन* इसी बात से सरोकार रखता है। सूरदास को विरह, संयोग और वात्सल्य से राबता रखने वाली दृष्टि कुछ भी कर लें वे सूरदास के रचनाकर्म की व्यापक निगाह को नहीं पहचान सकती। यह कृति सूरदास के कृतित्व के इसी पक्ष को प्रकाशमान करती है। मीरां और सूर सहित अनेक भक्त कवियों का काव्य भक्ति को साधन मानता था, साध्य नहीं। साध्य के रूप में ये कवि सामाजिक–सांस्कृतिक–राजनैतिक समस्याओं से सरोकार रखते थे। अंग्रेजी में जिसे हम *टू लेजिटिमाइज़* कहते हैं भक्त कवियों के लिए भक्ति वही है, *लिजिटमाइज़*। उनका उद्देश्य तो बहुत ही ज्यादा व्यापक था–

भक्ति आंदोलन केवल धार्मिक और लोकोत्तर की चिन्ता और सरोकारवाला आन्दोलन नहीं था, जैसाकि अक्सर माना जाता है। यह एक व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक और कुछ हद तक राजनीतिक आन्दोलन भी था और इसमें लोकोत्तर के साथ पार्थिव की चिंता भी निरंतर और बहुत सघन थी।[19]

देहरी पर दीपक के अन्तिम तीन अध्याय आधुनिक विषयों से सरोकार रखते हैं। ऐसे में भी माधव हाड़ा अपने व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि का साथ नहीं छोड़ते। गिरीश कर्नाड कृत *तुगलक* पर बात करना उनको इसी वजह से जरूरी भी लगा। यह नाटक सतही चक्करबयानी से मुक्त मानवीय अफलताओं को नए कोण से देखता है। तुगलक अपने कार्य में असफल हुआ मगर उसके पीछे छिपे मंतव्यों पर किसी की नजर नहीं गई। नाटककार गिरीश कर्नाड *तुगलक* में इसी नजरिए से सरोकार रखते हैं जिसकी माधव हाड़ा ने बखूबी सराहना की। इस नाटक की व्याख्या समकालीन संदर्भों में वे कुछ इस प्रकार करते हैं–

तुग़लक आज़ादी के बाद के सपनों के पराभव और मोहभंग का रूपक है। इसमें अपने समय और समाज के द्वन्द्व और चिन्ता को इतिहास में विन्यस्त किया गया है। इतिहास और मिथ के रूपक में अपने समय, समाज और व्यक्ति के द्वन्द्व और चिन्ता को व्यक्त करने वाली नाट्य रचनाएँ आधुनिक भारतीय भाषाओं में कई हुई हैं।[20]

पुस्तक की शैली नए अर्थ प्रदान करती है। लेखक व्यंग्यात्मक अन्दाज में भी जब किसी तर्क को खारिज करते हैं तो उनका वही अन्दाज अपने भीतर बहुत से तथ्य लिए हाजिर होता है। कुल मिलाकर कहा जाए तो *देहरी पर दीपक* मान्य सच के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। यह कृति छायावाद जैसे अल्पकालीन आन्दोलन के सन्दर्भ में भी कई मान्य सच को तोड़ने की गुंजाइश प्रदान करती है। इस पुस्तक के भीतर पुनर्विचार की अवधारणा लगातार श्वास लेती दिखाई देती है। माधव हाड़ा की बारीक ऐतिहासिक दृष्टि मान्य सच की जड़ों में कूच कर वास्तविकता की पड़ताल करने हेतु नई जमीन तैयार करती है। उस जमीन में वे *देहरी पर दीपक*' कृति के रूप में अपना बीज बो चुके हैं। लोक की मिट्टी में बोया हुआ यह बीज स्मृतियों, मिथकों, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक मान्यताओं सभी को समान रुप से प्रज्ज्वलित कर एक पुनर्नवा परंपरा का आह्वान करती है। साहित्य की समझ विकसित करने हेतु हर किसी को कम से कम एक बार इस पुस्तक से रूबरू होना चाहिए।

सन्दर्भ

1. हाड़ा माधव, देहरी पर दीपक, सेतु प्रकाशन संस्करण 2021.

2. वही.

3. वही.

4. वही.

5. हाड़ा माधव, सीढ़ियाँ चढ़ता मीडिया, आधार प्रकाशन, संस्करण 2012.

6. http://www.authorama.com/the-poetics-v®.html.

7. हाड़ा माधव, *देहरी पर दीपक,* सेतु प्रकाशन, संस्करण 2021.

8. वही.

9. पल्लव (सं.), *बनास जन,* अंक 44, जून 2021.

10. हाड़ा माधव, *देहरी पर दीपक,* सेतु प्रकाशन, संस्करण 2021.

11. वही.

12. वही.

13. वही.

14. वही.

15. वही.

16. वही.

17. वही.

18. वही.

19. वही.

20. वही.

पुस्तक का नाम : *देहरी पर दीपक,*

लेखक : माधव हाड़ा,

प्रकाशक : सेतु प्रकाशन, नोएडा,

प्रकाशन वर्ष : 2021

विधा : आलोचना

सम्पर्क – एफ–75, नांगलोई, दिल्ली–110041, ईमेल– arpirathor@gmail.com